पारुल - प्रसून



स्व. कु. पारुल टोलिया

जिनभारती

वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउण्डेशन के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

'प्रियवादिनी' स्व. कु. पारुल टोलिया द्वारा लिखित-संपादित-अनुवादित

- दक्षिणापथ की साधनायात्रा (हिन्दी) प्रथमावृत्ति पूर्ण
- महावीर दर्शन (हिन्दी) Mahavir Darshan (Eng + Hindi)
- विदेशों में जैन धर्म प्रभावना (हिन्दी) Jainism Abroad
- Why Abattoirs - Abolition? (Eng)
- Contribution of Jaina Art, Music and Literature to Indian Culture
- Musicians of India - I came across: Pt. Ravishankar
- Indian Music and Media (Eng)
- Profiles of Parul (Eng)
- पारुल-प्रसून (पुस्तिका तथा सीडी)

प्रा. प्रतापकुमार टोलिया द्वारा लिखित-संपादित-अनुवादित

- श्री आत्मसिद्धिशास्त्र एवं अपूर्व अवसर - द्विभाषी
- सप्तभाषी आत्मसिद्धि - श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत - सात भाषाओं में अंग्रेज़ी-हिन्दी भूमिकासह
- पंचभाषी पुष्पमाला
- दक्षिणापथ की साधनायात्रा (गुजराती) प्रथमावृत्ति पूर्ण
- विदेशों में जैनधर्म प्रभावना (गुजराती)
- महासैनिक (म.गाँधीजी एवं श्रीमद् राजचन्द्रजी विषयक)
- त्रीशरीं थरीळीं ष अहळीीर
- प्रज्ञाचक्षु का दृष्टिप्रदान-पं.सुखलालजी के संस्मरण (गुज)
- स्थितप्रज्ञ के साथ - आचार्य विनोबाजी के संस्मरण
- गुरुदेव के साथ - गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में
- प्रकटी भूमिदान की गंगा - विश्वमानव (रेडियो रूपक)
- जन मुर्दे भी जागते हैं ! - पुरस्कृत, अभिनीत हिन्दी नाटक
- संतशिष्य की जीवन सरिता
- कर्नाटक के साहित्य को जैन प्रदान
- Jain contribution to Kannada Literature & Culture
- Meditation and Jainism
- Speeches and talks in USA and UK
- Bhakti Movement in North
- Saints of Gujarat
- Jainism in present age
- My mystic Master Y. Y. Shri Sahajanandaghanji
- Holy Mother of Hampi
- साधना यात्रा का संधान पंथ (दक्षिणापथ - २)

(अनुसंधान - अंतर्पृष्ठ - ३ पर)

पारुल-प्रसून

पारुल कृति
"परालोक के आलोक में पारुल"

पारुल स्मृति
(स्मृति-अंजलियाँ)

स्व. कु. पारुल टोलिया
प्रा. प्रतापकुमार टोलिया

जिनभारती
वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउन्डेशन
प्रभात कोम्प्लेक्स, के.जी.रोड, बेंगलोर ५६०००९ (०८०-२२२५१५५२)
पारुल, १५८०, कुमारस्वामी लेआउट, बेंगलोर ५६००७८ (०८०-२६६६७८८२)

Parul Prasoon (Hindi / Gujarati)
Poetry : Written and Spoken
(in audio CD format)
by Late Kum. Parul P. Toliya and
Prof. Pratapkumar J. Toliya

Published by प्रकाशक:
जिनभारती Jinabharati
वर्धमान भारती इंटरनैशनल फाउण्डेशन VBIF
अनंत, १२ केम्ब्रिज रोड, बेंगलोर ५६० ००८
प्रभात कॉम्पलेक्स, के.जी.रोड, बेंगलोर ५६० ००९
पारुल, १५८०, कुमारस्वामी ले आउट, बेंगलोर ५६० ०७८
Parul, 1580, Kumarswamy Layout, Bangalore 560 078 India

प्रकाशन वर्ष : २००७

प्रतियाँ: १०००

मूल्य: रु.२५/- विदेशों में US $ 2.00

टाइपसेटिंग: इम्प्रिन्ट्स, बेंगलोर
मुद्रांकन: सी.पी.इनोवेशन्स, बेंगलोर

ISBN No.81-901341-0-7

कृति-क्रम

पिता-पुत्री की काव्यमय अभिव्यक्ति - पारुल-प्रसून

'मंगल मंदिर खोलो' की स्मृति दिलानेवाला 'पारुल-प्रसून' श्री प्रताप कुमार टोलिया का भावपूर्ण आविष्कार है। जीवन में काव्य, संगीत तथा अध्यात्म की त्रिवेणी साधना कर रहे प्रतापकुमार यहाँ एक पिता के रूप में प्रकट होते हैं।

अत्यंत कम उम्र में चिर विदा लेनेवाली अपनी पुत्री की विदा के कारण व्याकुल ऐसे उनके हृदय का यहाँ सरल, सहज आविष्कार है। यहाँ अपने आर्द्र संवेदनों के साथ साथ पारुल के लिखे हुए ग्यारह काव्यों का एक संपुट तथा उसकी एक कहानी एवं लेख - 'पारुल - परालोक के आलोक में' संकलित हैं। साथ में पिता के व्यथा से आर्द्र हृदय के संवेदन भी शब्द बद्ध हैं - 'पारुल स्मृति' शीर्षक से।

पारुल के काव्यों में उसकी संवेदनशीलता के साथ आध्यात्मिक दृष्टि भी परिलक्षित होती है। पारुल ने अपने 'नादान' मन के सीमाहीन एकाकीपन को दूर करने के लिए काफी प्रयास किया है। फिर भी वह दूर न होने पर करुण विवशता व्यक्त करते हुए वह लिखती है –

'नादान मन मेरे !
अपने आप से भी कोई, बच पाया है कभी . . ?'

पारुल की वेदना उस की विशेषता के कारण मर्मस्पर्शी बन गई है।

इस 'पारुल प्रसून' शीर्षक में केवल पिता की ही नहीं, माता की भावना भी अपने आप व्यक्त हो गई है। 'प्रसून' शब्द में - जिसका अर्थ है पुष्प - प्रताप का 'प्र' तथा सुमित्रा का 'सु' आ जाता है। उस पुष्प की दिव्य सुवास की इस संग्रह में अत्र-तत्र -सर्वत्र अनुभूति पाठकों को होती रहेगी। उसने कहा है:

'मैं काल के द्वारा कहाँ कुचली गई हूँ ? मैं तो स्वकाल में संचरण कर रही हूँ। मैं काल की गति से परे हो गई हूँ।'

मंगल मंदिर के द्वार भी इसी प्रकार खुलते होंगे ना? पारुल के इस उत्तर में आत्मा की अमरता का आध्यात्मिक सत्य छुपा हुआ है। मनुष्य अगर इसे प्राप्त कर सके तो ?!

- डॉ. गीता परीख

(गुजराती से अनूदित)

अहमदाबाद, २१.११.०५

प्राक्कथन

पूर्वप्रज्ञाधारी, मेधाविनी दिवंगता कुमारी पारुल कर्मसत्ता की - विधि की - कैसी यह विचित्र विडंबना, आयोजना कि पुत्री बनकर हमारे जीवन में आई और पथप्रदर्शिका बनकर अल्पायु में ही चल बसी।

प्रायः जाति-स्मृतिज्ञान तक पहुँचे हुए उसके इस अल्पजीवन की पावनस्मृतियाँ भी हमारे लिए चिर प्रेरणादायी बनीं हैं जिनमें से थोड़ी ही संग्रहीत हैं, सभी में बाँटने हेतु, यहाँ पर उसकी-हमारी काव्यकृतियों में और उसकी जीवन झाँकी की पुस्तिका Profiles of Parul में। इस सन्दर्भ में वर्तमान गुजराती कवि-मनीषि श्री निरंजन भगत के शब्दों में इतना ही कहेंगे कि -

"काल के पथ पर अल्प है संग, बंधु ! हमारा स्वल्प है संग।
फिर भी अंतस् पर छा जाएगा उसका जनम जनम तक रंग।।"

पारुल के इस चिरंतन आतम रंग के विषय में, वाणी के वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ति के पार के परालोक से इंगित उसकी इन कृतियों के द्वारा कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। ये प्रस्तुत किए हैं डा.श्रीमती गीता परीख एवं डा. वीरेन्द्रकुमार जैन ने अपने पुरोवचन एवं कृतित्व मूल्यांकन में। अन्यत्र विदुषी सुश्री विमला ठकार, पंडित रविशंकर, श्री कांतिलाल परीख, डा. रमणलाल जोशी, श्री श्रीकांत पाराशर आदि ने भी ये व्यक्त किए हैं। इन सभी का हार्दिक अनुग्रह-ज्ञापन करते हुए, मुद्रक मित्रों को भी धन्यवाद देते हुए अर्पित हैं ये चंद कृतियाँ-स्मृतियाँ आप सर्व पाठकों-भावकों के हाथों में।

बेंगलोर — प्रा.प्रतापकुमार टोलिया - सुमित्रा प्र. टोलिया

पारुल-कृतित्व मूल्यांकन

कुछ व्यक्ति जन्मजात विलक्षण प्रतिभासम्पन्न होते हैं, कुछ निरन्तर अध्ययन एवं अध्यवसाय के द्वारा प्रतिभासंचय करते हैं, और कुछ अन्य अधिसंख्य व्यक्ति केवल सामान्य लाभ के ही धारक बने रह जाते हैं। विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति प्रायः अल्पजीवी देखे गए हैं। किन्तु अपने अल्पजीवन काल में वे द्रष्टा और सृष्टा के रूप में क्षयधर्मी काल के अति गतिशील पटल पर अपने कृतित्व की ऐसी छाप छोड़ गए हैं जो व्यक्ति और समाज के लिए लाभदायक ही नहीं, अनुकरणीय भी बन गई। इस सन्दर्भ में अमेरिकन कवि रिचर्ड जेफरिस की एक कविता का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत है :-

जीवन की अनुपम आभा में
धरती का अनोखा सौन्दर्य
हर नई खिलने वाली पंखुड़ी के साथ
एक नई कलाकृति प्रस्तुत करता है
मनहर और अभूतपूर्व।
जिन क्षणों में हमारा मन

सौन्दर्य में लीन होता है
उन्हीं क्षणों में हम
सचमुच जीवित होते हैं।
सो, जितने ही क्षण
हम सौन्दर्य के बीच बिताएँगे
क्षयधर्मी काल से
मात्र उतने ही क्षण
छीन पाएँगे।

पारुल की रचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वह अपनी अंतः चेतना में क्षयधर्मी काल से जीवन के बहुमूल्य क्षण छीनने में सतत प्रयत्नशील रही और खोज खोज कर लाती रही अनमोल मणियाँ। द्रष्टव्य है 'निजघर में प्रकाश' का यह अंश –

वास्तव में अंधेरा तो बाहर की तड़क भड़क वाली दुनिया में है,
भीतरी दुनिया में तो प्रकाश ही प्रकाश है
साहस किया वहाँ जाने का कि उस प्रकाश को पा लिया
भीतर के सागर में डूबने का जहाँ प्रयास हुआ है
प्राप्त हुए हैं वहाँ अनमोल मोती।

शायद पारुल के अवचेतन मानस में अपने अल्प जीवन का अहसास रहा होगा - उसका पूर्वाभास। उसकी सभी रचनाओं में यत्र तत्र यह पूर्वाभास प्रकट हुआ है –

घूमते बादल, उड़ते पंछी, खड़े पेड़ -
सभी का प्रतिबिम्ब जल में
परन्तु उस जल-तट पर खड़ी हुई
अपने असंग स्वरूप में एकाकी खोई हुई
बाहर से शून्य अशेष बनी हुई
इस अस्तित्व-विहीन का
प्रतिबिम्ब कहीं नहीं था।

स्वयं को अस्तित्वविहीन कहना उसकी अवचेतन - तटस्थित मानसिक स्थिति का स्पष्ट संकेत देता है। एक दूसरी कविता में वह और भी मुखर हुई है -

शाम का धुंधलका
और उसपर भी हावी होने का प्रयास करते बादल
नीड़ को लौटते थके हारे पंछी
और नदी के तट पर खड़े वृक्ष

थे प्रतिबिम्बित
जल की अथाह गहराई में
तट पर खड़ी थी मैं
अकेली, अनन्त की ओर ताकती
पर मेरा प्रतिबिम्ब कहीं न था।

अपने अवचेतन मानस से उसकी अल्पकालीन जीवन स्थिति के संकेत बराबर मिलते रहे होंगे। तभी तो समय को सम्बोधित कर उसने कहा था –

समय! तू रुक जा
थोड़ी देर ही सही।
कुछ बिखरे पल
फिर से समेट सकूँ
उतार सकूँ दिल की गहराई में
हमेशा के लिए, ताकि
फिर मुझे छोड़ के न चले जाएँ . . .
- समय ..... ठहर जा –!

अध्ययन तथा स्वाध्यायशील प्रकृति की धनी पारुल अपने अल्प जीवन में ही बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न बन गई थी। जैन दर्शन के गहन अध्ययन का प्रभाव भी उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है –

ज्ञान दर्शन संयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत
शेष तो सारे संयोगलक्षण वाले बहिर्भाव

अभिव्यक्ति की सहज स्वाभाविक शैली पारुल की रचनाओं में सर्वत्र देखने को मिलती है -

अंधकार, एकाकीपन एवं स्वयं
मानो तीनों ही एकरूप हो गए हैं
इस स्थिति में
दिल की हर आह, हर पुकार
अपने भीतर ही कहीं खो जाती है
और फिर भी चेहरे पर
बनी रहती है हँसी खुशी।

पारुल की रचनाएँ यद्यपि संस्कृत निष्ठ हिन्दी में हैं किन्तु दुरूह नहीं। उनमें ऐसी स्वाभाविक सरलता है जो पाठक के अन्तर्मन की गहराईयों में बैठती चली जाती हैं। संगीतात्मकता उनका विशेष गुण है जो पारुल को अपने साहित्यमनीषी और संगीतज्ञ पिताश्री प्रतापकुमार टोलिया

और माता श्रीमती सुमित्रा टोलिया से विरासत में मिला था।

संध्या का हूबहू चित्रण –

घूमते बादल, उड़ते पंछी,
खड़े पेड़।
... ...
भागता हुआ समय
कहाँ ठहरता है वह?
अतीत शैशव की स्मृतियाँ
और वर्तमान के भाग रहे, बिछड़ते क्षण,

ऊपर से नहीं अंदर से
बाहर से नहीं भीतर से
पाई जाती है
गरिमा और गंभीरता सागर की
प्रेम के सागर की।
. . . .
चाह,
विलक्षण अनजान, अदृष्ट
जब से वह भीतर पैठ गई है
तबसे उसे समझते समझते
खो दिया अपने आप को
अपने होश को . . .

कन्नड़ भाषा के मनीषी कवि दत्तात्रेय रामचंद्र बेन्द्रे ने कहा है -

दर्द जो मेरा है मुझको ही मुबारक हो
गीत लो उसका मगर मैं तुम्हें देता हूँ
दिल अगर मिश्री-सा तुम्हारा घुल जाए
तो स्वाद उसका थोड़ा सा मुझे दे देना।

अपने एकाकीपन का दर्द लिए पारुल काल कवलित हो गई किन्तु दे गई, अपने दर्द की अनुभूति से पैदा ऐसी कालजयी कृतियाँ जिन्हें काल कवलित नहीं कर सकता।

– डॉ. वीरेन्द्र कुमार जैन

बेंगलोर

१. अंधकार ही बना आलोक - निजघर में ! (दोराहा)

दोराहे पर खड़ी हूँ मैं ।

आगे और पीछे घना कुहरा छाया हुआ है ।

आते जाते लोग कह रहे हैं कि "उस ओर मत जाओ,

वहाँ अंधकार ही अंधकार है ।"

और मैं मान लेती हूँ - शायद वे अपने अनुभव से बोल रहे हों ।

. . . और मैं वापस मुड़ने लगती हूँ . . .

पर मेरे भीतर कुछ पुकार उठता है, और मैं अंदर जाने का साहस करती हूँ . . . ।

आगे बढ़ते ही सब कुछ बदलने लगता है । लोग ऐसा क्यों बोल रहे थे?

बाहर से यह घना और कभी कभी भयानक, नीरव भी लगता है ।

पर जैसे अंदर जाओ, वह कम होने लगता है,

कम से कम कुछ दूर तक तो सब साफ़ दिखाई देता है ।

और डरावना तो बिल्कुल नहीं है ।

वह जैसेअपने नर्म हाथों से हमारे गाल सहलाता है . . .

ओस कण मोतियों से बालों पर बिखर जाते हैं . . .

और उसकी नीरवता शांतिदायक लगती है - बिल्कुल स्वप्नील-सी !

चलते चलते मुझे अपने पीछे किसी की पदचाप सुनाई देती है ।

पर मैं बिलकुल अकेली हूँ । साथ है तो बस इस कुहरे का ।

अंदर खुशी की एक लहर मेरे भीतर दौड़ जाती है ।

शायद मैं ही इसे समझ सकती हूँ, क्योंकि मैं ही कोशिश कर रही हूँ ।

और भी होंगे मुझ-से, कहीं दूर, पर मेरे साथ नहीं ।

यह मेरा अहम् हो सकता है,

पर कभी कभी भी कोई दिखाई देता है तो भागता हुआ . . .!

और जब मैं घर पहुँचती हूँ - 'अपने' घर -

तो कुहरा जैसे प्रकाशमान हो जाता है . . . !!

है ना अजीब?

दोराहा - पार्थिव-अपार्थिव : भौतिक-आध्यत्मिक का दोराहा। अपार्थिव अंतरालोक में अंतःसृष्टि में जाने से लोग डरते हैं। वहाँ अँधेरे की आभासी कल्पना मात्र कर वे वहाँ जाते नहीं, जानेवाले को भी रोकते हैं। वास्तव में अंधेरा तो बाहर की तड़क-भड़कवाली दुनिया में है। भीतरी दुनिया में तो प्रकाश ही प्रकाश है। साहस किया वहाँ जाने का, कि उस प्रकाश को पा लिया। भय के मारे बैठे रहे किनारे पर और डूबे नहीं अपने भीतर के सागर में, तो कैसे पाएँगे उन मोतियों को? परम प्रकाश को? ''जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ, मैं बौरी ढूंढन चली और रही किनारे बैठ।'' वास्तव में 'किनारे' ही तो ले डूबते हैं न? किनारे – भौतिकता के, बाहरी माने हुए, आभासी, सुख-सुविधाओं के किनारे, सुरक्षाओं के किनारे। भीतर के सागर में डूबने का यहाँ प्रयास हुआ है और प्राप्त हुए हैं अनमोल मोती। निजघर में लौटने का साहस हुआ है और प्राप्त हुआ है प्रकाश। अंधेरे को, कुहरे को भी प्रकाशित, परिवर्तित करनेवाला प्रकाश।

२. तटस्थिता (अस्तित्वविहीना)

शाम की नीली गहराईयाँ,
इन गहराइयों पर
हावी होने का असफल प्रयास करते बादल,
नीड़ को लौटते थके हारे पंछी,
और नदी के तट पर खड़े वृक्ष
थे प्रतिबिम्बित जल के
अथाह गांभीर्य में।
तट पर खड़ी थी मैं -
अकेली, असंग, अनंत की ओर ताकती . . .
पर मेरा प्रतिबिम्ब कहीं न था ।

अद्भुत अनुभूति अभिव्यक्त हुई है संध्या के इस हूबहू चित्रण में : घूमते बादल, उड़ते पंछी, खड़े पेड़ सभी का प्रतिबिम्ब जल में। परन्तु उस जल-तट पर खड़ी हुई, अपने असंग स्वरूप में एकाकी खोई हुई, बाहर से शून्यशेष-अशेष बनी हुई, इस 'अस्तित्वविहीना' का प्रतिबिम्ब कहीं नहीं था। कहीं भी नहीं . . .। मानो, वह इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर संसार की सृष्टि में कहीं पर अपना प्रतिबिम्ब, अपनी प्रतिछाया, अपनी प्रतिस्मृति छोड़कर जाना नहीं चाहती थी।

३. मन की नादानी

मन के द्वार खुले थे
फिर भी न जाने क्यों
सूरज का प्रकाश बाहर ही फैलकर रह जाता है!
शब्दहीन मस्तिष्क में,
शांत इस जीवन में,
नादान मन ने किया प्रयास :
रंग और सूर भरने का
नीरव निशा में
सपने सजाए सुखद जीवन के ।

निःशब्द, निर्विचार मस्तिष्क और शांत-प्रशांत जीवन में भी मन की नादानी रंग, सूर भरने की व्यर्थ चेष्टा करती है और अपना द्वार खुला होते हुए भी सूर्यप्रकाश भीतर में प्रवेश नहीं कर पाता । भीतर में पड़ी प्रशान्ति और रिक्तता को वैसे ही रहने दें तभी तो प्रवेश हो पाता है न, प्रकाश का, ज्ञान-भानु के प्रकाश का ? बीच में अंतराय बनकर आनेवाले नादान मन की हस्ती ही अवरोध बनती है। अंतस् में सत्तारूप में विराजमान ज्ञान के उद्घाटन में, अनावृत्तिकरण में जबतक मन की यह हस्ती है, न भीतर के ज्ञानप्रकाश का प्राकट्य हो पाता है, न बाहर के ।

४. समय स्थगन

समय! तू रुक जा
थोड़ी देर ही सही ।
कुछ बिखरे पल
फिर से समेट लूँ
उतार लूँ दिल की गहराई में
हमेशा के लिए ।
फिर मुझे छोड़ के न चले जाएँ;
कुछ भूली हुई यादें

फिर से ताज़ा कर लूँ,
जिससे मेरी टूटी हुई आशाएँ लौट आएँ
मेरे अरमान जो बाँधे रखे थे
टूटते हुए दिल को
फिर दिल को तोड़ न जाएँ
समय के बढ़ते प्रवाह में
बचपन की यादें,
जवानी के ये बिछड़ते पल,
खोना नहीं चाहती -
वे फिर वापिस आए न आए !
ज़िंदगी के इस बढ़ते वेग में
समय ! तू रुक जा ।

भागता हुआ समय, कहां ठहरता हे, रुकता है वह ? अतीत शैशव की स्मृतियाँ और वर्तमान के भाग रहे बिछड़ते क्षण सभी को पकड़कर रखना है । थोड़ी देर तो रुक जा, ऐ समय !

५. पुनः तनहा

न जाने कब से तनहा थे,
तुम आए ज़िंदगी में,
खुशियों से भरे पल लिए,
कई सुंदर सपने लिए,
तो समझे, आख़िर
तनहाईयों का साथ छूटा
अब न पड़ेगी ग़म की छाया जीवन में
नहीं निराशा आएगी फिर से जीवन में ।
तुम चले गए हो अब
फिर से तनहा हो गए हैं . . . ।

एकाकीपन, स्वयं की असंगदशा किसी का संयोग, चले जाने से फिर वियोग, शेष पुनः वह एकाकीपन, वही असंगदशा। अंततोगत्वा अपनी आत्मा सदा सर्वदा असंग, एकाकी ही है न? ठीक ही तो कहा था असंग ज्ञानियों ने –

''एगो में सासओ अप्पा नाण दंसण संजुओ।''

ज्ञानदर्शन संयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत, शेष तो सारे बहिर्भाव - संयोगलक्षणवाले!

६. सदियों की भटकन

शमा-सी जलती कभी,
कभी बुझती-सी
थी वीरान ज़िंदगी . . .
भटक रहे थे सदियों से
सुख की तलाश में
नगर, नगर; डगर-डगर
न जाने कहाँ कहाँ घूमे उसे ढूंढने,
कभी पाते पाते रह गए
कभी गिरते गिरते बच गए
अंत में दुनिया तो बहुत पा ली
सुख पाया भी तो कैसा?
जो दो पल ठहरा भी नहीं।
क्या अब भी वही भटकना होगा?

अनादिकाल से, सदियों से चलती आई भटकती, भटकती चेतनयात्रा! कभी अंधकार, कभी प्रकाश!! खोज थी सुख की कहाँ कहाँ, किन किन देशों में, किन किन वेशों में, किन किन रूपों में खोजा उसे, खोते पाते, उठते गँवाते, आख़िर एक बार यह 'कथित सुख' पाया भी, परंतु पल भर के ही लिए!!! फिर वही वीरानी, वही उदासी, वही भटकन, वही बेढ़ंगी रफ़्तार सदियों पुरानी, भवभ्रमण की। वास्तविक सुख तो अंतस् में ही!

७. जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ . . .

प्रेम का सागर
धीर, गंभीर, अथाह
उमड़ रहा है दिल में
प्यास बुझानेवाले
इसे चख के विदा होते
न समझ पाते इस खारेपन के भीतर
छुपी मिठास को
अपनी मिठास को
खारेपन का नकाब नाममात्र को
पहनाया है . . .
थाह पाने का यत्न
तुम्हें गहरा सुख देगा
एक बार उस में डूबे
कि लौट न पाओगे ।

ऊपर से नहीं, अंदर से, बाहर से नहीं, भीतर से पाई जाती है गरिमा और गंभीरता सागर की, प्रेम के सागर की । बाहर से, ऊपर से वह उमड़ता दिखता है, खारा लगता है, परंतु उसकी मधुरता, उसकी सुख-शाता दायिनी शांति उसके भीतर छिपी है । कभी डूबकर के तो देखें गहरे पानी की गहराई में ।

स्वर्ग

स्वर्ग आसानी से मिलता है कभी ?
और जानेवाला भी लौटा है कभी ?

८. असीम एकलता

अजनबी राह पे
एक अजनबी के साथ चल रही हूँ
अजनबी मैं।
अपनों से दूर
इस अजनबीपन से दबी दबी हूँ मैं
जानती हूँ तो सिर्फ़ तनहाई को,
जो लम्हा लम्हा बढ़ती जाती है . . . !
इसकी सीमाहीनता में,
अपने आप को
और भी दूर पाती हूँ मैं ।

मेरी पहचान रही है सिर्फ एकाकीपने से। धीरे धीरे वह बढ़ती जाती है, वह आख़िर निस्सीम हो चलती है और अपनी सत्ता से, अपनी आत्मा से यह निस्सीम एकलता मुझे दूर कर देती है, अपनों से दूर भागने से अपनी आत्मा से ही दूर भागना बन जाता है। उसे तो, अपने आपको तो सभी के बीच रहकर ही पाना है, हाँ, सभी के बीच रहकर अलिप्त-से, सभी के बन जाकर नहीं।

९. स्वप्न-साकारता की अभिलाषा

एक अजानी-सी चाह
अनदेखी पहले
घर कर गई मुझ में
इसे समझने के प्रयास में
भूले अपने आप को
दिवास्वप्न बन चुके जीवन को . . .
इसी स्वप्न से यथार्थ में बदलने की कोशिश
बहाए लिए जा रही हूँ,

अजनबी पथ पर ।
उस अंतिम लक्ष्य की परिकल्पना भी
असंभव होने लगी है ।
हे दिवास्वप्न के राजकुमार !
तुम ही इस परिकल्पना को रूप दो
और इस रूप को
अरूप से साकार-स्वरूप बना सकुं ।

चाह – बिलकुल अनजान, अदृष्ट । जब से वह भीतर बैठ गई है, तब से उसे समझते समझते खो दिया अपने आप को, अपने होश को । जीवन बन गया एक दिवास्वप्न । फिर प्रयास चला उस दिवास्वप्न को वास्तविकता में बदलने का । अज्ञात मार्गों पर यह यात्रा चली । मंझिल न जाने कहाँ दूर खो गई । चाह और दिवास्वप्न के राजकुमार ! काल्पनिक राजकुमार ही शायद दे सके उस खोई हुई मंझिल की हस्ती ।

१०. अपने आप से पलायन ?

अंधेरा
अकेलापन
और मैं . . . .
अभिन्न एक दूसरे से
हृदय से उठती हर टीस, हर आह
मुझी में कहीं खो जाती है
मेरे करीब आनेवाला
उसका अहसास तक नहीं पाता
मेरे चेहरे की मुसकान
खुशी का संकेत बन जाती है
(और) वह आगे बढ़ जाता है
और मैं उसे वापस लाने के यत्न में विफल (हो जाती हूँ)

फिर उसी अंधेरे अकेलेपन से
बचने का यत्न करने लगती हूँ . . .
(पर) नादान मन मेरे !
अपने आपन से भी कोई
क्या बच पाया है कभी ?

अंधकार, एकाकीपन और स्वयं – मानो, तीनों ही एकरूप हो गए हैं। इस स्थिति में दिल की हर आह, हर पुकार, अपने भीतर ही कहीं खो जाती है, और फिर भी चेहरे पर बनी रहती है हँसी, खुशी। पास आया आगंतुक इस खुशी को सच्ची मानकर मेरी सहायता किए बिना आगे निकल जाता है। उसे लौटा लाने का प्रयास भी करती हूँ, पर व्यर्थ। इस निष्फलता के बाद उस अभिन्न बने हुए अंधकार और एकाकीपन से बचने का, उससे भाग छूटने का, पलायन का प्रयास करती हूँ, पर वह भी व्यर्थ !! आख़िर अपने से, स्वयं से, जो एकरूप हो गया है उसे छुटकारा कैसे हो सकता है ? अपने आप से ही पलायन कैसे किया जा सकता है ? कोई कर भी पाया है कभी ?

११.अंतस्-सागर की गहराई में . . .

परे . . .
शब्दों के कोलाहल से,
विचारों की हलचल से,
ठहरे हैं -
एक शांत, स्निग्ध नीरवता में
पहरों।
मनचाहा एकांत है जहाँ,
मैं हूँ और साथ है
एक प्रशांत महासागर
जिस की अतल गहराई में

मन चाहता है

डूब जाएँ

कुछ पल के लिए ही . . . ।

शब्दों का हाहाकार और विचारों का विस्तार, वाणी का व्यापार और मन का संसार – इन सभी के पार तो है विराजित प्रशांत महासागर, अपने साथ में। भीगी, भीगी शांत निस्पंद नीरवता में काल जब खो जाता है और अपना प्रिय ऐसा एकांत जब अस्तित्व धारण कर लेता है, तब प्रशांत महासागर तक पहुँचा जाता है और उसकी अतल गहराई में डूब जाने का आनंद पाया जा सकता है। आख़िर यह सागरवत् गम्भीर ही तो है अपना सिद्ध, बुद्ध, शुद्ध स्वरूप। उसकी सिद्धि पाने के लिए ही तो हम प्रार्थना करते रहे हैं, उस सिद्धलोक के सिद्धों से –

"सिद्धा ! सिद्धि मम दिसंतु।"

उस सिद्धलोक में खो जाने के प्रयास में परालोक के पारुल की शायद यह अंतिम शब्दकृति।

पारुल प्रसून

''परालोक के आलोक में पारुल'' इस लघु काव्यसंग्रह में पारुल की स्वयं की इन काव्यकृतियों के पश्चात् प्रस्तुत है यहाँ इस पारुल-प्रसून – ''पारुल स्मृति'' की कृतियाँ। दिवंगत पारुल की ऊर्ध्वात्मा को श्रद्धांजलि के रूप में उसके पिता के हृदय की ये अभिव्यक्तियाँ हैं जिन में कहीं कहीं पारुल की आत्मा ने भी अपने परालोक से प्रतिसाद दिया है। पिता-पुत्री के छोटे से आत्म-संवाद-सी इस प्रथम स्मृति में ही इस बात का आभास होता है। शीर्षक है – ''कालगति से परे''।

१. कालगति से परे . . .

प्र. : ''पारुल-पुष्प, जो कराल-काल के द्वारा कुचला गया . . . !''

पारुल : ''ना, बापू! मैं काल से कहाँ कुचली गई हूँ ?
मैंने ही तो काल को स्वाधीन किया है, कैद किया है,
मेरे स्व-क्षेत्र, स्व-द्रव्य और स्व-काल में बद्ध किया है।
स्व-भाव में विहर कर,
स्व-काल में ही मैं संचरण कर रही हूँ।
काल तो मेरे हाथ में कैद और दास है
अब मुझे वह कुचल नहीं सकता, मार नहीं सकता !
काल-गति से मैं परे हो गई हूँ !!''

२. पारुल-पुष्प

इतना कोमल पुष्प !
और इतना कठोर आघात !!
कितना छोटा ओस-कण
और कितना रुद्र-प्रपात !!
काल-कर्म का कैसा है यह
निर्मम क्रूर उपघात, उत्पात !!

(मार्ग पर - ७.१०.१९८८)

सप्त स्वरों से टूटा प्रमुख स्वर
बिखर गया संगीत . . . ।
कैसी है यह गति विधना की
कैसी प्रीत की रीत ?

(पारुल स्मृतिदिन - २८.८.१९९०)

४. जब शाम ढले . . .

(स्वर-छाया - राग - पहाड़ी - गोरख कल्याण)

शाम ढले . . . शाम ढले . . .
जब शाम ढले और दीप जले तब
बिटिया ! तुम नित आती हो
इस सूने दिल के कोनों को
प्रकाश से भर जाती हो । अनुपम प्रकाश दे जाती हो ।
शाम ढले और दीप जले तब . . .
आँसुओं को देख हमारे, तुम हँसना सीखलाती हो,
रोना-धोना छुड़ा के जग का, आनंदपथ दिखलाती हो ।
शाम ढले और दीप जले तब . . .
"माँ ! बापू !! क्यों शोक मोह यह ?" क्या क्या तुम कह जाती हो,
"मैं तो सदा हूँ साथ आपके" गाती और गवाती हो ।
शाम ढले और दीप जले तब . . .
"हँसती रही मैं सदा जीवनभर, हँसना सीखाने आई मैं ।"
रोने को भी हँसी में बदलने, अब भी हँसाती जाती हो ।
शाम ढले और दीप जले तब . . .
"गई नहीं मैं दूर आप से, हर स्पन्दन में साँस है मेरी ।

दूर होकर भी पास अधिक मैं'' – प्रतिक्षण गाती जाती हो।
दिल की धड़कन बन जाती हो।

शाम ढले और दीप जले तब . . .

''देह नहीं मैं ज्योति आतम की, आपने ही तो सीखलाया था।''
सीख हमारी फिर से हम को, तुम सीखलाती जाती हो।
तुम सीखलाने आती हो।

शाम ढले और दीप जले तब . . .

(बेंगलोर, २२.१०.१९८८)

५. शान्ति करो !

शान्तिनाथ प्रभु ! शान्ति करो,
क्लान्ति और अशान्ति हरो।
जड़-दुर्बलता युगों युगों की
मोहभाव की भ्रान्ति हरो . . .
शान्ति जिनेश्वर ! शान्ति करो !!

भटका बाहर शान्ति खोजने,
अब अंतस् में विश्रांति करो।
मन-वच-काय में शान्ति भरो,
आश्रव-आय की शान्ति करो . . .
शान्ति जिनेश्वर ! शान्ति करो !!

बहिरांतर में प्रशान्ति भरो,
निज-पर-सर्व की शान्ति करो . . .।
दिवंगता के पथ पर पल पल,
आनन्द पुलकित पुष्प भरो।
पथ के कंटक सारे हटाकर,
ऊर्ध्वगमन, उत्क्रान्ति करो।

शान्ति जिनेश्वर ! शान्ति करो ! !

प्रभो ! पारुल के आत्म की शान्ति करो,
हम सर्व जनों की अशान्ति हरो . . . ।
परम प्रसन्न प्रशान्ति प्रदान कर,
आलोकित जीवनपंथ करो ।

शान्ति जिनेश्वर ! शान्ति करो ! !

(बेंगलोर, २२.१०.१९८८)

६. पार क्षितिज से –

पार क्षितिज से, दूर दिगन्त से,
खोल रहा कौन द्वार ?
शून्य भवन में, कौन झंकार कर,
छेड़ रहा तार सितार ?

पार क्षितिज से –

'मुखर' अचानक मौन होकर के,
सोये थें एक बार,
आज उस मौन महान से उठकर,
करता कौन संचार ?

पार क्षितिज से –

पर्दा गिरा था उस दिन यकायक,
कर हाहाकार अंधकार,
आज उठता है पर फिर वो ही,
कर के प्रकाश-बौछार . . .

पार क्षितिज से –

"काल-क्षेत्र की सीमाएँ सब, अब गई हैं हार,
बांध सके क्या कोई मुझ को ? मेरा मुक्त विहार . . . ।"

–यों कहते छाया की माया, तोड़ रही दीवार . . .

पार क्षितिज से –

तमस् विदीर्ण हुआ युगों का, फूटी तेज फुहार,

परम पुरुष दीदार दिखलाए, दिव्यगगन-दरबार

'देह-विदेह' से 'महाविदेह' के 'खुले आज हैं द्वार'।

पार क्षितिज से –

(बेंगलोर, २४.१०.१९८८)

७. मुक्त-उन्मुक्त पारुल को –

बिटिया !

तुझे हम रोकते थे, बांधते थे . . .

तू मुक्त, मस्त, अनुरक्त थी –

– तेरे अंतस्-गान आलापन में,

– सुशब्दबद्ध आलेखन में,

– ऊर्ध्वमुख सुचिंतन में . . . ।

उन सभी में हम सदा सानुकूल फिर भी

इस बाघ-भेड़िये-से समाज की

भयजनित मर्यादाओं से डरकर,

तुझे हम 'ब्रेक' लगाते थे –

– तेरे मुक्त साधना विहार में !!

अब वह रोकना नहीं रहा,

बाँधना नहीं रहा,

स्थूल देह की मर्यादा-सीमाएँ गईं . . . ।

अब तेरे पास अधिक सक्षम, अधिक सूक्ष्म,

सर्वसीमालांघ्य तेज-शरीर रहे बिटिया . . .!!

उन सभी के द्वारा
अब सतत लिखते रहना, गाते रहना, ऊर्ध्व-गगन में विहरते रहना !!!
और रुकना तभी ही –
कि जब तू प्राप्त कर ले,
सिद्धशिला के सुपावन, सूक्ष्म, अलौकिक, दिव्य स्फटिक-शैल-शिखरों को –
हम सभी को भी वहाँ का पंथ दीखलाती !

(बेंगलोर, ३०.३.१९८९)

८. कवित्त-बिंदु

वत्से पारुल !
इस विराट, अंतहीन, अनादियात्रा के
एक छोटे से कालखंड पर
मेरी अंतस्-कल्पना की सुपुत्री का
एक आदर्श स्त्री-साधिका का,
मूर्तिमंत साकार रूप लेकर तुम आई।
संगीत, शब्दशक्ति, सौम्यता, कारुण्य, पावित्र्य, प्रफुल्लित, प्रसन्नता,
मधुरवाक्, अनथक योगसाधन, दर्शनगरिमा, परम-प्रशान्ति ...
क्या-क्या, सबकुछ एक साथ संजोकर,
अपनी जीवन-झोली में भरकर ले आई ...।
उसे बाँट-बिखेर-बौछारकर,
एक दिन अचानक ही, अनकहे – अल्विदा भी बिना कहे
(जैसे क्वचित् तुम्हारी वह आदत थी) –
शायद पुनः अल्विदा कहने आने।
बस ...
अपने सांत मुक्तिपथ पर शीघ्र ही पहुँचने, चल देने,
शीघ्र ही यहाँ असमय ही, महाकरुणापूर्ण जीवनान्त से

मुरझाई, सिधाई परमज्योति में समाई !!
"पुत्री" बनकर आई, प्रसन्नता बिखेरती हुई, परम
पवित्रता बनकर, मौन व्याख्यान से गुरु बोध प्रदानकर,
"पथप्रदर्शिका" बनकर चली गई !!
औरों ने, जगने, हैं आँसू बहाए,
उन सारों को संजोकर, अपने में घुलाकर, गहन अंतस्
वेदन-निर्झर से निसृत हमने बहाए हैं कवित्त के बिन्दु !
हमारे आँसू, अश्रुबिन्दु, कवित्तबिन्दु,
शायद तुम्हें व्यथित कर देंगे,
अतः अब एक ही आस,
सदा प्रार्थना, शुभकामना भरी सतत एक मंगल प्रश्वास,
अंतस्-गहनता-निष्पन्न आशीर्वाद
कि, हो तुम्हारा महाविदेह में सीमंधर परमकृपालु चरणों में वास
और शीघ्र ही पाओ तुम
तुम्हारे सुशांत, ईप्सित, सुगतिपूर्ण, सुमेरु शैल शिखर के भी
पार के ऊर्ध्वगमन को, ऊर्ध्वगगन को ।।

(बेंगलोर, चैत्र शु. ९, प्रातः - १४.४.१९८९)

९. शेष-स्मृति

जीवन्त पदरव, स्मित वदन, मंजु भाषण, बौछार हास्य की
सब कुछ काल-गर्त में बह गए, ढह गए ।
प्रशान्त स्वर और अक्षर अब हैं,
शेष जिस के रह गए – लेखनों में, रिकार्ड गानों में ।।

(आत्मध्यान, परमगुरुओं के प्रार्थन्, पारुल सन्निधि के लोक में - बेंगलोर, प्रातः २२.७.१९८९)

१०. अगम बोल

"बापू!" का शब्द सुना, मंजुल-मृदुल सुना,
प्रसन्न हंसी के साथ गैबी कोई बोल सुना,
हृदय का दुःख शोक घुला, अवरुद्ध अंतर्द्वार खुला . . . ।

(बेंगलोर, रात पूनम, १७.८.१९८९)

परालोक में पारुल की अंतिम अभिलाषा:

११. बहे निरंतर सुर-शब्दधारा

गुञ्जित हुए हैं जहाँ पर मेरे मधुर गीत-शब्द, सुस्वर, संचार
और झनझनाते रहे हैं शान्त प्रशान्त सितार-तार
जहाँ हुआ है मेरे प्रसन्न वचन-पुष्प प्रस्तार,
जहाँ संग्रहित हैं मेरे पठन-लेखन-चिन्तन विस्तार
वहाँ – इस 'अनंत' निलय में, अनंत निवास भवन में
निसृत न हो किसी के भी वि-स्वर, कटु-स्वर।
बहती रहे यहाँ निरंतर सौम्य-सुमधुर, सुकोमल संगीतस्वरों
और शब्दों-पराशब्दों की ही मुखर वाग्धारा . . . आनंदधारा !!
अथवा मौन, नीरव, निःशब्द, अव्यक्त स्वरों की सुरधारा !!
बहते रहे सदा यहाँ पर संवादमय, सुप्रसन्न, स्नेहसभर शब्द
और विरमित हो विस्वर-विसंवादपूर्ण शब्द
बहते रहे यहाँ निरंतर, सदा-सर्वदा, दिव्यसंगीत के
'आहत' से 'अनाहत' की ओर ले जाते हुए,
'सांत' से 'अनंत' तक पहुँचाते हुए,
परालोक-अगमलोक का अगोचर दर्श कराते हुए,
अलख-धून के अनहद नाद-स्वर . . . !!!

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

एक और मीरा

उसे दुनिया में आए पाँच साल हो गए थे। पर वह जैसे दुनिया को पहचान ही न पाई थी, न कुछ जानती थी इस मायाजाल के बारे में, न ही शायद जानना चाहती थी। बिलकुल लापरवाह-सी बैठी रहती थी वह। कोई खेलना भी नहीं चाहता (था) उससे। शायद डरते थे उसके बड़े से मुँह को देखकर। उम्र के हिसाब से कुछ बड़ी ही लगती थी। शरीर से ज़रूर बड़ी थी, पर मानसिक रूप से उसका विकास जैसे कुछ हुआ ही न था।

हमारे पड़ौस में रहती थी - नाम था मीरा। कितने ही चाव से रखा होगा उसकी माँ ने यह नाम। पहले पहल उसकी माँ को दुःख तो बहुत होता था बच्चों का अपनी बेटी के प्रति ऐसा व्यवहार देखकर, पर कर भी क्या सकती थी? अब तो जैसे आदत-सी पड़ गई है। मीरा का भी अकेले में कब तक जी लगता? खेलना चाहती है, उनके पास जाने का प्रयास भी करती है, पर बच्चे भाग जाते हैं। स्कूल में उसे दाखिल नहीं करते।

आखिरकार धीरे धीरे इस मोटे मुँहवाली मीरा ने अपना मन मोड़ लिया। अकेलेपन से ऊब जाने की अपनी आदत उसने बदल डाली। बच्चे उस से दूर भाग जाते थे, तो अब वह भी उनकी परवाह छोड़कर, अकेले में बैठने का आनन्द उठाने लगी।

घर के बाहर एक छोटा-सा पेड़ था और पेड़ के नीचे एक पत्थर। घर के काम में माँ का हाथ बटाकर उस पर अकेली बैठे बैठे वह मुहल्ले के उस पार दूर तक देखती रहती। पास कोई आ गया तो अपनी चुप्पी आप साधे हुए देखा-अनदेखा कर देती।

बस, अब तो बाहर बैठी रहकर भी उसकी खामोशी बढ़ने लगी, खुदी खत्म होने लगी, मानसिकता विकसित होने लगी और अपनी भीतरी दुनिया में वह खो जाने लगी। उम्र भी अब बढ़ने लगी और उम्र के बढ़ने के साथ साथ उसकी तनहाई भी। ना, अब तनहाई तो उसके लिए बोझ नहीं, 'मौज' बन गई थी। इस मौज की मस्ती बढ़ने लगी। बाहर के खेल-खिलौने तो कब के छूट गए थे, मानों अब भीतर में कोई मज़ेदार खिलौना हाथ आने लग रहा हो!

इस अकेली खेल रही 'मीरा' का नाम सुनते ही लोगों को गिरिधर गोपाल की दीवानी, मेड़ता की महारानी मीरा की यांद आ जाती। परंतु दोनों में कितना अंतर था! वह प्रेमदीवानी फिर भी सयानी, और यह निरी अबोध नादान और पगली-सी।

पर दिन बीतने पर यह खामोश तनहा मीरा अपने भीतर में कुछ अज़ीब-सा घट रहा

महसूस करने लगी। अपने अल्हड़ पागलपन की जगह पर अब वह समझदार और गंभीर दिखाई देने लगी . . . । कभी वह खुली आँखों से दूर दूर तक देखा करती। कभी आँखें बंदकर अपने भीतर में कोई अजनबी दुनिया देखने चली जाती, उसमें ही खोई रहती - घंटों तक, समाधि-ध्यान की भाँति। परन्तु उसकी इस भीतरी दुनिया की बाहरी अभिव्यक्ति कहीं हो नहीं पाती थी। वह बोले तो न? सबलोग तो उसे मूक और पगली ही मान लेते थे। परन्तु उसकी खामोशी उसकी बड़ी शक्ति बन रही थी, उसमें नई ताज़गी और समझदारी पनपने लगी थी। भीतर की खामोशी जीवन का ज्ञान बढ़ानेवाली होती है यह उसके जीवन में अब झलकने लगा था। परन्तु निकट के सारे के सारे बाहरी लोग उसकी इस बदली हुई हालत को समझने में नाकामयाब थे, असमर्थ थे। वैसे भी जग कहाँ, कब समझ पाया है किसी की भीतरी दुनिया को, उसकी गहराई और ऊँचाई को। और उसमें भी इस मीरा जैसी पगली लड़की को पहचान पाना किस के बस की बात थी? बस, वह तो जिए जा रही थी अपनी नई अंदरूनी ज़िंदगी।

मेड़ता की भक्त मीरा सुदूर की बांसुरी को अतीत में से सुनती हुई अपनी भक्ति की मस्ती में 'मुखर' बनकर गा और नाच उठती थी, तो यह मीरा अपने भीतरी मौन की अनुरक्ति में आनंद पाती हुई भीतरी सृष्टि में सूर व शब्दविहीन 'अंतर-बासुरी' सुनकर लीन हो जाती थी। अपने आनंद को जताने न तो उस के पास गीत के कोई शब्द या स्वर थे, न नाच-गान की अभिव्यक्ति। था तो एक मात्र हास्य, एक मुक्त हास्य, एक खुशमिज़ाज स्मित। लोग तो अब भी उसे 'पगली' ही समझते और कहते चले जा रहे थे।

परन्तु इस अपने में ही मस्त मीरा को कहाँ परवाह थी लोगों के समझने-कहने की? वह भली और भली उसकी खामोशी की सुनहरी दुनिया - 'काहू के मन की कोउ न जानत, लोगन के मन हांसी!'

समय बीतता गया . . . । मीरा की तनहा खामोशी दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई। . . . और . . . और एक दिन खुद में खोई यह मीरा यकायक, अचानक शान्त हो गई, अनंत खामोशी की नींद में सो गई - बिना किसी दुःख-दर्द के, बिना किसी संदेश के, बिना किसी परिचय-इतिहास के - 'परिचय इतना, इतिहास यही; उमड़ी कल थी, मिट आज चली।'

उस के पीछे उसकी स्मृति दिलानेवाले, उसने न तो शब्द छोड़े थे, न भजन-गीत। उसका न तो कोई अक्षर देह - शब्द देह था, न स्वर देह। निःशब्द की नीरव, निस्पन्द निराली दुनिया में गति-संचरण कर गई इस मूक मीरा का अस्तित्व कहीं भी, किसी रूप में भी नहीं था, जल-प्रतिबिम्बवत् भी नहीं! 'जल के तट पर' खड़ी रहकर, 'तटस्थिता' बनकर, वह बन चुकी थी - अस्तित्व-विहीना, जिसका प्रतिबिम्ब उस जल में भी कहीं न था -

''जल के अथाह गांभीर्य में, तट पर खड़ी थी मैं - अकेली, असंग

परन्तु मेरा प्रतिबिम्ब कहीं नहीं था !''

मेड़ता की भक्त मीरा मेवाड़ छोड़कर, द्वारिका जाकर अपने गिरिधर-गोपाल में लीन होकर समा गई थी - अपने भजनों में अपना प्रतिबिम्ब छोड़ती हुई।

प्रयाग की करुणात्मा महादेवी - आधुनिक मीरा, अपना महिला-विश्वविद्यालय छोड़कर, अपने दरिद्र-नारायण में समा गई थी - अपने छायागीतों में अपना प्रतिबिम्ब छोड़ती हुई।

यह निराली मीरा अपनी इर्दगिर्द की उपेक्षाभरी दुनिया छोड़कर, अपनी 'अंतस् द्वारिका में' संचरण कर, अपने भीतरी नारायण की शरण जाकर, अपनी अज्ञात, अनंत, नीरव, प्रशांत दुनिया में लीन हो गई - उसका प्रतिबिम्ब कहीं नहीं था।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हम्पी, कर्नाटक की अधिष्ठात्री परमपूज्या आजन्मज्ञानी

आत्मदृष्टा माताजी

. . . एक परिचय - झांकी

स्व. कु. पारुल टोलिया
एम.ए. गोल्ड मेडलिस्ट
- सात एवार्ड प्राप्त जर्नलिस्ट

. . . रात्रि का घना अंधकार चारों ओर फैला हुआ है . . . सर्वत्र शान्ति छाई हुई है . . . नीरव, सुखमय शान्ति। इस अंधकार में प्रकाश देनेवाले तारे और धूमिल चन्द्रमा आकाश में मुस्कुरा रहे हैं। चारों ओर नज़र दौड़ाने पर दूर खड़े पर्वतों के आकार भर दिखाई देते हैं और कभी कभी छोटी बड़ी चट्टानें भी।

अपने आप में बन्द यह एक अलग ही दुनिया है। ऐसी दुनिया कि जहाँ कदम रखने पर मन में एक प्रकार की अपूर्व शान्ति दौड़ जाती है, ऐसी दुनिया कि जहाँ पहुँचने पर हम इस दुनिया को भूल जाते हैं, जहाँ इस जग के विलास, विडंबना, घमण्ड, क्रोध, मोह, माया, लोभ पहुँच नहीं पाते।

. . . अगर आप को यहाँ आना है तो इन सब को घर में बन्द कर के आइए, क्योंकि आप यहाँ आते हैं भटकती - तड़पती हुई इस आत्मा को तृप्ति दिलाने, उसे दुर्लभ मानवजीवन का मूल्य समझाने, अपने आप को टटोलने और 'अन्दर' झाँकने - न कि अपने विषय-कषायों को बढ़ाने!

अनेक महापुरुषों की पद-रेणु से धूसरित यह स्थान है योग-भूमि हम्पी - 'सद्भक्त्या स्तोत्र' में उल्लिखित ''कर्णाटे रत्नकूटे भोटे च''वाला रत्नकूट - हेमकूट का कर्णाटक स्थित प्राचीन जैन तीर्थ एवं रामायण कालीन किष्किन्धा नगरी हम्पी - विजयनगर के समृद्ध साम्राज्य का भूला हुआ वह भू-भाग कि जहाँ यह नूतन जैन तीर्थरूपी आश्रम - श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम - प्राकृतिक गुफाओं में बसा है - शहरी ज़िन्दगी की अडचनों और विकृतियों से कोसों दूर! . . . यहाँ पर रेल, ट्रेन, मोटरगाड़ी या बस की आवाज़ तक पहुँच नहीं पाती!!

पहाड़ी पर स्थित इस तीर्थ-धाम के नीचे हरे लहलहाते खेत, दूसरी तरफ़ पर्वत एवं पर्वत के तले किलकिल बहती तीर्थसलिला तुंगभद्रा नदी और ऊपर आश्रम में बंधा हुआ सुन्दर गुफ़ामन्दिर - इन्हें देखने भर से आप की बुराईयाँ न जाने कहाँ गायब हो जातीं हैं, जैसे वे पहले कभी थीं ही नहीं!!!

. . . यहाँ पर हर किसी का स्वागत होता है। हमारे समाज को छेदनेवाले ऊँच-नीच के

भेद को यहाँ कोई स्थान नहीं। बीसवे जैन तीर्थंकर परमात्मा मुनिसुव्रत भगवान के एवं मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु श्री राम के विचरणवाली मानी गई रामायणकालीन किष्किन्धानगरी और मध्यकालीन विजयनगर साम्राज्य की इस भूमि में तो जैसे आज भी, गांधीगुरू श्रीमद् राजचन्द्रजी के कृपापात्र योगीन्द्र युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी जैसे महामानव की योग, ज्ञान एवं भक्ति की त्रिवेणी से पावन धरा पर, भगवान मानों साक्षात् बसते हैं। . . . और उन की भेद - राग द्वेष से भिन्न नज़रों में तो सभी आत्माएँ समान हैं, चाहे फिर वे अमीर की हों या गरीब की, मनुष्य-देहधारी की हों या पशु-पक्षी-कीट-पतंग की ! यहाँ सच्चे भावों का स्वागत होता है।

इस आश्रम की चलानेवाली हैं - बाहर से दिखने में सीधी, सादी, सामान्य वेषधारी, पर भीतर से ज्ञान, भक्ति एवं योग की अमाप्य ऊंचाईयों पर पहुँची हुई आत्मज्ञा ''माताजी''। हर कोई उन्हें इसी नाम से पुकारता है। ये सिर्फ नाम से ही नहीं, बल्कि काम से भी ''माताजी'' हैं, - सभी की माताजी, वात्सल्य एवं करुणा के सागर-सी माताजी !!!

धनदेवीजी नामधारी जगत्माता की काया गुजरात की, कच्छ की ही है, परन्तु आत्मा, देह होते हुए भी, महाविदेह क्षेत्र की ! उन्हें ''जगत्माता'' के, आश्रम की ''अधिष्ठात्री'' के रूप में संस्थापित किया है जंगल में मंगलरूप इस नूतन तीर्थधाम के संस्थापक महायोगी श्री सहजानन्दघनजी ने, बरसों पहले ई. १९७० में 'योग के द्वारा' अपना देहत्याग करने से पहले। आज सारा आश्रम रोशन है इन्ही जगत्माता के मुस्कुराते, जगमगाते, तेजस्वी, ज्ञानपूत चेहरे से। माताजी जगत के रागादि मोहबंधनों से दूर फिर भी जैसे निष्कारण करुणा और सर्व-वात्सल्य का साक्षात् रूप है। वह सिर्फ हमारी ही नहीं, अनेक अबोल, वेदनाग्रस्त, मूक पशु-प्राणियों की भी ''माँ'' है। हर अतिथि की, हर आगन्तुक साधु-साध्वी की ही सेवा, वैयावच्च नहीं, हर यात्री की, हर श्रावक की, हर बालक की, हर पशु-पंछी की भी जो वात्सल्यमयी सेवा माताजी करती है, वह तो देखते ही बनता है।

इतनी योग, ज्ञान एवं भक्ति की ऊँचाई पर रही हुई आत्मज्ञानी माताजी इतनी सहज सरलता से सभी की सेवा में लगती है उसे देखकर तो हर कोई दंग रह जाता है। माताजी बालिकाओं एवं बहनों के लिए तो वात्सल्य का एक विशाल वट-वृक्ष-सा आसरा है। दूसरी ओर जीवन भर उनसे आत्मसाधना की दृढ़ता प्राप्त करने के बाद, मरणासन्न बूढ़ों या अन्य मनुष्यों के लिए ही नहीं, पशुओं के लिए भी ''समाधिमरण'' पाने का वे एक असामान्य आधार है। कई मनुष्यों ने ही नहीं, गाय, बछड़ों और कुत्तों ने भी उनकी पावन निश्रा में आत्म-समाधिपूर्वक देह छोड़ने का धन्य पुण्य पाकर जीवन को सार्थक किया है। ऐसी सर्वजगतारिणी वात्सल्यमयी माँ के लिए क्या और कितना लिखें? वर्णन के परे है उनका बड़ा ही अद्भुत, विरल, विलक्षण जीवनवृत्त।

ऐसी परम विभूति माँ के चरणों में एवं ऐसी पावन तीर्थभूमिपर खुले आकाश के नीचे बैठकर कई उच्च विचार आते हैं और गायब हो जाते हैं . . . । फिर अचानक वेदना की टीस भरा एक विचार आता है कि जल्द ही इस स्वर्ग-सी दुनिया को छोड़कर अपने व्यवहारों की खोखली दुनिया में चले जाना पड़ेगा . . . । जी उदास होता है । जाना नहीं चाहती । काश ! (शायद आपनी इच्छाओं से ही सृजित) ऐसी दुनिया ही न बनाई गई होती ! ! हम्पी में, वात्सल्यमयी माँ के चरणों में जो अपनापन, जो प्यार मिलता है, वह इसमें कहाँ? वहाँ के लोग जैसे इन्हें जानते ही न हों . . . । . . . फिर भी जिम्मेदारियाँ हमें खींचती हैं . . . जाने पर बाध्य करती हैं . . . विवश होकर जाने के लिए चल देती हूँ तो यह संकल्प करके कि - ''फिर भी यहाँ वापस आऊँगी, जल्द ही !'' . . . घनरात्रि में ये विचार शामिल हो जाते हैं . . . और मन पर फिर से शान्ति छा जाती है . . . ।

(कापीराइट लेख) नोट: - इस लेख को लिखने के कुछ वर्ष बाद, लेखिका कु. पारुल की दिव्यप्रेम की प्यासी आत्मा, इस 'खोखली दुनिया' को छोड़कर (२८.८.८८ को बस ऐक्सीडैन्ट को निमित्त बनाकर) चली गई . . . शायद अपने सूक्ष्म आत्मरूप से इसी आत्मज्ञा माँ के चरणों में विचरने ! ! - प्र.

. . . उनकी दूसरी सुपुत्री पारुल के विषय में प्रकाशित पुस्तक 'Profiles of Parul' देखने योग्य है । प्रो. टोलिया की इस प्रतिभाशाली पुत्री पारुल का जन्म ३१ दिसम्बर, १९६१ के दिन अमरेली में हुआ था । पारुल का शैशव, उसकी विविध बुद्धिशक्तियों का विकास, कला और धर्म की ओर की अभिमुखता, संगीत और पत्रकारिता के क्षेत्र में उसकी सिद्धियाँ, इत्यादि का आलेख इस पुस्तक में मिलता है । पारुल एक उच्च आत्मा के रूप में सर्वत्र सुगंध प्रसारित कर गई । २८ अगस्त १९८८ के दिन बेंगलोर में रास्ता पार करते हुए सृजित दुर्घटना में उसकी असमय करुण मृत्यु हुई । पुस्तक में उसके जीवन की तवारीख और अंजलि लेख दिए गए हैं । उनमें पंडित रविशंकर की और श्री कान्तिलाल परीख की 'Parul - a serene soul' स्वर्गस्थ की कला और धर्म के क्षेत्रों में संप्राप्तियों का सुंदर आलेख प्रस्तुत करते हैं । निकटवर्ती समग्र सृष्टि को पारुल सात्त्विक स्नेह के आश्लेष में बांध लेती थी । न केवल मनुष्यों के प्रति, अपितु पशु-पक्षी सहित समग्र सृष्टि के प्रति उस का समभाव और प्रेम विस्त्तरित हुए थे । उसका चेतोविस्तार विरल कहा जाएगा । समग्र पुस्तक में से पारुल की आत्मा की जो तस्वीर उभरती है वह आदर उत्पन्न करनेवाली है । काल की गति ऐसी कि यह पुष्प पूर्ण रूप से खिलता जा रहा था, तब ही वह मुरझा गया । पुस्तक में दी गई तस्वीरें एक व्यक्ति के २७ वर्ष के आयुष्य को और उसकी प्रगति को तादृश खड़ी करतीं हैं । पुस्तिका के पठन के पश्चात् पाठक की आँखें भी आँसुओं से भीग जाती हैं । प्रभु इस उदात्त आत्मा को चिर शान्ति प्रदान करो ।

'वर्धमान भारती' गुजरात से दूर रहते हुए भी संस्कार प्रसार का ही कार्य कर रही है वह समाजोपयोगी और लोकोपकारक होकर अभिनन्दनीय है ।

डॉ. रमणलाल जोशी

(सम्पादक, 'उद्देश')

'त्रिवेणी' लोकसत्ता-जनसत्ता - अहमदाबाद २२-३-१९९२

(अनुसंधान - अंतर्पृष्ठ - २ से)

- दांडीपथने पगले पगले - गाँधी शताब्दी दांडीयात्रा के अनुभव - गुजराती
- अमरेली से अमेरिका तक - जीवनयात्रा
- पावापुरी की पावन धरती पर से (आर्ष दर्शन)
- मेरे मानसलोक के महावीर
- कीर्ति-स्मृति - पारुल-स्मृति (दिवंगत अनुज एवं आत्मजा की स्मृतियाँ)
- ॲवार्ड - वार्तासंग्रह - गुजराती / हिन्दी
- गीत-निशान्त - काव्य-गीत - हिन्दी
- वेदन संवेदन (काव्य) - गुजराती
- पराशब्द (निबंध) - हिन्दी
- अंतर्दर्शी की अंगुलि पर... (स्मरणकथा) - गुजराती
- Award, Bribe Master, Public School Master, yan yal and other stories
- Betrayal and other stories
- Himalyan Betrayal and other stories
- Why Vegetarianism?

शताधिक में से कुछ महत्वपूर्ण सी.डी, कॅसेट्स

श्रीमद् राजचन्द्र साहित्य

- श्री आत्मसिद्धि शास्त्र - अपूर्व अवसर
- परमगुरुपद (यमनियमादि)
- राजपद (विनानयन, हे प्रभु आदि) राजभक्ति
- भक्ति-कर्त्तव्य (अन्य भक्तिपद)
- भक्ति-झरणां (राजभक्ति + मातृ स्वाध्याय)
- सहजानंदसुधा (राजभक्तिपद - सहजानंदजीकृत)
- ध्यानसंगीत (गुज.: आ. जनकचन्द्रसूरिसह)
- धून-ध्यान (सहजात्मस्वरूप धून)
- परमगुरुप्रवचन, कल्पसूत्र, दशलक्षण (सहजानंदघनजी)
- बाहुबलीदर्शन (बाहुबलीजी-श्रीमद्जी-गांधीजी)
- महावीरदर्शन (श्रीमद् राजचन्द्र तत्त्व आधारित)
- ध्यानसंगीत - आनंदलोके अंतर्यात्रा

जिनभारती

वर्धमान भारती इन्टरनैशनल फाउन्डेशन

प्रभात कोम्पलेक्स, के. जी. रोड, बेंगलोर ५६० ००९

पारुल, १५८०, कुमारस्वामी ले आऊट, दयानंदसागर कॉलेज रोड, बेंगलोर ५६० ०७८

फोन: ०८०-२६६६ ७८८२ / २२२५ १५५२

परालोक में पारुल - मनीषियों की दृष्टि-सृष्टि में

''पारुल की उदात्त आत्मा अभी अपने ऊर्ध्वगमन की ओर गति कर रही है। 'मुक्ति' तो नहीं है। वह जन्म लेगी, केवल कुछ ही जन्म और पहुँचेगी 'समकित' तक। उसकी पुनर्जन्म प्राप्त आत्मा को आप पहचान लेंगे।''

- आत्मदृष्टा विदुषी सुश्री विमलाताई ठकार, माउन्ट आबु

(*Voyage within with Vimalaji - pp 15*)

''यद्यपि पारुल से मैं एक ही बार मिला था जब कि उसने बेंगलोर एअरपोर्ट पर मेरा इंटरव्यू लिया था, वह मुझे एक आशु-प्रज्ञ, भली और सच्चाईभरी कन्या दीखाई दी।

इतनी छोटी आयु में उसकी मृत्यु एक खिल रही कली के समान है जो कि एक अद्भुत पुष्प-रूप में विकसित होने जा रही थी। . . . उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रभु से मेरी प्रार्थना।''

- पंडित रविशंकर (*Profiles of Parul*) नई दिल्ली

''पारुल अनेक सिद्धियों का एक ऐसा व्यक्तित्व था कि जो भी विषय उसने उठाया उस में वह चरम पर पहुँची। अपनी बौद्धिक सम्पदा होते हुए भी वह एक कर्मठ कर्मयोगिनी रही। परंतु इन सभी से ऊपर वह मुझे दीखाई दी एक अति संवेदनशील और प्रशांत आत्मा के रूप में, जिसकी आँखें सदा सुदूर आकाश के उस पार झाँकती रहीं और सचराचर सजीव सृष्टि के प्रति सदा अपनी करुणा बहाती रही . . .।''

- श्री कान्तिलाल परीख (*Profiles of Parul*) मुंबई

''जाने माने जैन स्कॉलर, संगीतकार, प्रतापकुमार टोलिया की पुत्री पारुल टोलिया अगर आज जीवित होती तो पत्रकारिता के क्षेत्र में एक विशेष स्थान बना चुकी होती। परन्तु २८ अगस्त १९८८ को एक दुर्घटना में उनका आकस्मिक निधन हो गया। बहुमुखी प्रतिभा की धनी पारुल ने न जाने कितने ही छोटे-बड़े पुरस्कार अपनी छोटी-सी उम्र में बटोर लिए थे। वे शहर के तत्कालीन लोकप्रिय साप्ताहिक 'सिटी-टॅब' की नियमित स्तंभकार थी तथा शहर के सबसे पहले हिन्दी दैनिक 'कारण' में सहायक सम्पादक के रूप में कार्य कर चुकीं थीं। उनकी पुण्यतिथि २८ अगस्त को है। इस पुण्य अवसर के आलोक में उनकी कुछ छोटी मोटी कविताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं।''

- श्रीकान्त पाराशर, सम्पादक, दैनिक 'दक्षिण भारत', बेंगलोर

२१.०८.२००५